उन्नीसवीं सदी के कुछ प्रसंग

'नागरी-लेखक' की निर्मिति

चंदन श्रीवास्तव

अँधेरे का सच्चा निदान है प्रकाश। हिंदू अज्ञानी हैं और इसी कारण ग़लती करते हैं। कभी भी उनकी ग़लतियों को उनके आगे साफ़-साफ़ रखा नहीं गया। हमारे प्रकाश और ज्ञान का उनके बीच संचार हो तो यह उनकी अज्ञानता का सबसे अच्छा उपचार साबित होगा और इस उपचार पर पूरे विश्वास के साथ अमल किया जाना चाहिए ...

— चार्ल्स ग्रांट, 1792

पूरब की विशाल जनसंख्या के बीच युरोपीय सभ्यता के प्रसार से हमें जो फ़ायदे होंगे उसकी गिनती मुश्किल है। तनिक संकीर्ण नज़रिये से सोचें तो बेहतर यही है कि भारतीय हमसे स्वतंत्र हों और सुशासन में रहें, न कि हमारे शासन में हों और वह कुशासन हो। भारतीय अंग्रेज़ कलेक्टर अथवा मैजिस्ट्रेट को सलामी बजाएँ, परंतु उनमें अंग्रेज़ी वस्तुओं का मोल समझने, उसे सराहने और ख़रीदने का ज्ञान न हो, इससे बेहतर है कि वे अपने राजाओं के अधीन रहें किंतु हमारे कोट-पैंट पहनें और हमारे काँटे-चम्मच को बरतें। ग़ुलामों पर शासन करने से अनंत गुना ज़्यादा लाभदायक होता है सभ्य मनुष्यों से व्यापार करना। यह कोई बुद्धिमानी की बात नहीं कि भारत को ग़ुलाम बनाये रखने के फ़िराक़ में हम उसे अपने लिए एक महँगी और अनुपयोगी ज़िम्मेदारी बना लें; इस बुद्धिमानी से तो हम लाखों लोगों से अपनी अधीनता स्वीकार कराने के चक्कर में उन्हें अपना ग्राहक बनाने से चूक जाएँगे ...।

— ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर पर बहस में
भाग लेते हुए मैकाले, 10 जुलाई, 1833

हमारा महत् प्रयोजन हिंदू-शिक्षण अथवा मुसलिम-शिक्षण नहीं, बल्कि उपयोगी ज्ञान का 'शिक्षण' है ...।

— जेम्स मिल, 1824 में रेवेन्यू डिपार्टमेंट
को भेजा गया डिस्पैच

ब्रिटिश सुधर्म-प्रचारवाद (इवांजिलिकलिज़्म) और उपयोगितावाद ने मिल कर उन्नीसवीं सदी में भारत के लिए एक सपना देखा था। इन स्वप्न-द्रष्टाओं में कुछ चार्ल्स ग्रांट जैसे सुधर्म-प्रचारवादी थे, कुछ जेम्स मिल जैसे उपयोगितावाद के प्रस्तावक और कुछ सुधर्मवाद और उपयोगितावाद के अनूठे मेल से तैयार थॉमस बैबिंग्टन मैकाले जैसे ब्रिटिश संसद के चमकते सितारे शामिल थे। भारत को ले कर देखा गया इनका सपना 1857 के बाद के हालात में

धीरे-धीरे साकार हो रहा था।* सुधर्म-प्रचारवाद और उपयोगितावाद, दोनों कहीं गहराई में एक-दूसरे से सहमत थे। दोनों मानते थे कि पूरे के पूरे समाज को मूलगामी ढंग से बदला जा सकता है, क्योंकि मनुष्य की प्रकृति हर जगह एक जैसी होती है। वह कोरी स्लेट होती है और उसका रूप इस बात पर निर्भर करता है कि उस पर कैसी इबारत लिखी जा रही है। दोनों अपने तईं भारतीय मन पर लिखी भ्रमपूर्ण इबारत मिटाकर उस पर नयी रोशनाई से कुछ लिखाई करने के लिए आतुर थे। अपने अंधकार से निकल और हमारे प्रकाश की तरफ़ चल— इस आह्वान की तर्ज़ पर अंग्रेज़ी-सभ्यता ज्ञान की जिस इबारत का संचार कर रही थी वह ज्ञान विद्यालयों, पाठ्य पुस्तकों और सुधर्मवादियों की बुक-सोसायटियों के माध्यम से साक्षर हो रही प्रजा का मन-मानस मथ रहा था।

इस ज्ञान ने अपने 'शिष्यों' से एक जटिल रिश्ता बनाया। इसके प्रति एक तरफ़ लगाव था क्योंकि दुनियादारी के लिहाज़ से यही ज्ञान फ़ायदे का सौदा था, लेकिन इसके लिए एक दुराव भी था क्योंकि दीन इस दुनियादारी से रोक रहा था। ईमान रोक रहा था और क़ुफ़्र खींच रहा था। दुनियादारी कहती थी कि किसी क़ुफ़्र के साथ जीना है। दीन कहता था कि दम निकला जा रहा है। बालकृष्ण भट्ट को मलाल था कि सभ्य जाति वाले हम पर परिवर्तन-विमुखता का आरोप लगाते हैं। यह नहीं समझते कि सूरदास की *काली कामरि चढ़ै न दूजा रंग*। भला रंग ही चढ़ता तो सूरदास क्यों रहते, लेकिन रंग था कि चढ़ा जा रहा था। भट्टजी को बेचैनी थी कि हर साल नये-नये फ़ैशन के कपड़े निकल आते हैं और 'यहाँ न जानिये कितने सौ वर्ष कलेवा कर गये वही गजी की धोती और गाढ़े की मिरजई छोड़ कोई दूसरे प्रकार वस्त्र का न निकाल सके।'[1] यह बेचैनी इस बात को साबित करती है। शिक्षा और नौकरशाही ने मिल कर एक मध्यवर्ग बनाना शुरू कर दिया था और यह मध्यवर्ग 'दीन' और 'दुनिया' के द्वंद्व में अपना रास्ता ढूँढ़ना चाहता था। परिवर्तन का रंग इसी पर चढ़ रहा था और वह इसे बड़ी बेचैनी से कभी 'हाँ' और कभी 'न' के स्वर में सोच रहा था। यह

* अट्ठारहवीं सदी के अंतिम तीन-चार दशकों में औद्योगिक समाज की ज़रूरतों और सामाजिक बदलावों के मद्देनज़र इंग्लैंड की राजनीति में ज़ोर इस बात पर था कि राज्य शिक्षा के क्षेत्र में हस्तक्षेप करे. यह इंग्लैंड में सार्वजनिक शिक्षा की शुरुआत का समय है. समाज-सुधार के उद्देश्य से बनी सुधार-सभाओं और स्वयंसेवी संगठनों ने शिक्षा की दिशा में प्रयास तेज़कर दिये थे और राज्य पर सभा-संगठनों का दबाव बढ़ने लगा था. इंग्लैंड में यह वक़्त कैपहम सेक्ट, द सोसायटी फ़ॉर बेटरिंग द कंडीशन ऑफ़ द पुअर तथा द सोसाइटी फ़ॉर द रिफ़ार्मेशन ऑफ़ मैनर्स की स्थापना का समय है. मानवतावादी रुझानों वाला कैपहम सेक्ट 1780 और 1790 के दशकों में विशेष रूप से सक्रिय था. इसने सुधर्म-प्रचारवाद (इवांजिलिकलिज़म) को सार्वजनिक जीवन में प्रतिष्ठित करना चाहा और समाज के विभिन्न वर्गों तक शिक्षा के ज़रिये पहुँचाने की कोशिश की. इसका उद्देश्य था : 'बाइबिल का ज्ञान फैलाना, आचरण के सुधार पर ज़ोर देना, ग़ुलामों की मुक्ति के लिए प्रयास करना और पापात्माओं को त्राण देना'. इसके सदस्यों में थे विलियम बिल्बरफ़ोर्स, चार्ल्स ग्रांट, जॉन शोर और जैकरी मैकाले. बिल्बरफ़ोर्स ब्रिटिश संसद के सदस्य थे. चार्ल्स ग्रांट ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स में शामिल थे. वे ब्रिटिश संसद के सदस्य और मिशनरी भी थे. जॉन शोर (विलियम जोंस के जीवनीकार) 1793 से 1798 तक भारत के गवर्नर जनरल रहे और जैकरी मैकाले थॉमस बेबिंग्टन मैकाले के पिता थे. बिल्बरफ़ोर्स के ही भाषण से 1893 के कम्पनी के चार्टर में मिशनरियों को भारत में शिक्षा देने की अनुमति मिली थी. मैकाले भारत में कम्पनी की शिक्षा-नीति के अगुआ साबित हुए जबकि चार्ल्स ग्रांट के प्रभाववश भारत में कम्पनी की शिक्षा-नीति में चरित्र-निर्माण एक ज़रूरी तत्त्व माना गया. जेम्स मिल अपने आरम्भिक जीवन में सुधर्म-प्रचारक थे और कैपहम सेक्ट से उनका गहरा नाता था. वे बिल्बरफ़ोर्स के सहयोगी भी रहे. उनका नाम थॉमस मैकाले के प्रशंसकों में शुमार है. भारत में सुधार की योजना के रूप में उदारतावाद ने सुधर्म-प्रचारकों, विधिवेत्ताओं, शिक्षाविदों और उपयोगितावाद के सिद्धांतकारों को एक कर दिया था. इस विषय पर विस्तार से जानकारी के लिए देखें, एरिक स्टोक्स (1959), *द इंग्लिश यूटिलिटेरियंस ऐंड इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन; नैंसी एल. एडम्स और डेनिस एम. एडम्स (1971), 'ऐन एग्ज़ामिनेशन ऑफ़ फ़ोर्सेज अफ़ेक्टिंग इंग्लिश एजुकेशन पॉलिसीज़ इन इण्डिया : 1780-1850', *हिस्ट्री ऑफ़ एजुकेशन क्वार्टर्ली,* खण्ड 11. अंक 2 : 154-173; ज्यॉफ़्री ए. ऑडी (2006), *इमेजिंड हिंदुइज़्म : ब्रिटिश प्रॉटेस्टेंट मिशनरी कंस्ट्रक्शंस ऑफ़ हिंदुइज़्म 1793-1900,* यूनिवर्सिटी ऑफ़ सिडनी, सिडनी.

[1] सत्यप्रकाश मिश्र (1995), *बालकृष्ण भट्ट— प्रतिनिधि संकलन,* नैशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली : 9-10.

बेचैनी कुछ करने को उकसा रही थी, और इस उकसावे को हवा देने के लिए एक विधि-आधारित शासन मौजूद था जिसने 1957 के विद्रोह के बाद मान लिया था कि किसी न किसी रूप में भारतीय प्रजाजनों की शिकायत सुनना और एक हद तक शासन में प्रतिनिधित्व देना लाज़मी है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नागरी-लेखक का उदय इसी प्रतिनिधित्वमूलक व्यवस्था के भीतर होता है और यही व्यवस्था उसकी भूमिका निर्धारित करती है। आलेख का मक़सद है नागरी-लेखक के उदय को एक विशिष्ट घटना के रूप में रेखांकित करके उसके प्रभावों को समझना।

बालकृष्ण भट्ट को मलाल था ... 'यहाँ न जानिये कितने सौ वर्ष कलेवा कर गये वही गजी की धोती और गाढ़े की मिरजई छोड़ कोई दूसरा प्रकार वस्त्र का न निकाल सके।' ... शिक्षा और नौकरशाही ने मिल कर एक मध्यवर्ग बनाना शुरू कर दिया था ... परिवर्तन का रंग इसी पर चढ़ रहा था ... यह बेचैनी कुछ करने को उकसा रही थी, और इस उकसावे को हवा देने के लिए एक विधि-आधारित शासन मौजूद था जिसने 1857 के विद्रोह के बाद मान लिया था कि किसी न किसी रूप में भारतीय प्रजाजनों की शिकायतें सुनना और एक हद तक शासन में प्रतिनिधित्व देना लाज़मी है।
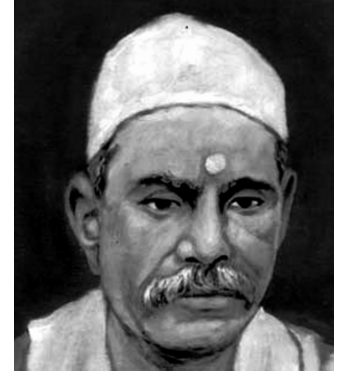
वे, जो सिर्फ़ लेखक नहीं थे

1857 के बाद स्थापित राज्य-व्यवस्था के भीतर भारतीय प्रजाजनों की बेचैनी भारतेंदु-मण्डल के प्रमुख रचनाकार राधाचरण गोस्वामी के आत्मकथ्य से समझी जा सकती है। राधाचरण गोस्वामी लिखते हैं कि संवत् 1930 (1873 ई.) में 'मैं फ़र्रुखाबाद में पण्डित उमादत्तजी के पास सिद्धांत कौमुदी पढ़ता था, एक दिन गवर्नमेंट हाईस्कूल में शहर के संस्कृत विद्यार्थियों की परीक्षा ली गयी। इनके साथ मैं भी परीक्षा देने गया था। वहाँ जो परीक्षा का अंग्रेज़ी क्रम और ढंग देखा तो मुझे अंग्रेज़ी विद्या पर बहुत श्रद्धा हुई और मैंने अंग्रेज़ी पढ़ने की ठान ली ... पाठको, स्मरण रखना चाहिए कि मैं जिस कुल में उत्पन्न हुआ (गोस्वामीजी अपने कुल के परिचय में लिखते हैं, 'मेरे पिता का नाम श्री गोस्वामी गल्लूजी महाराज, माता का नाम सूर्या देवी, जाति गौड़ ब्राह्मण, गोत्र शांडिल्य, प्रवर शांडिल्य, असित् देवल, यजुर्वेद, माध्यन्दिनी शाखा, वृति सेवा-पूजा, अग्रवाल वैश्यों की गुरुता, निवास श्री वृंदावन धाम ज़िला मथुरा है।') उसमें अंग्रेज़ी पढ़ना तो दूर है, यदि कोई फ़ारसी, अंग्रेज़ी शब्द भूल से भी मुख से निकल जाय तो बहुत पश्चाताप करना पड़े ...अस्तु, मैंने गुप्त रीति से पं. रामरत्नजी संस्कृत टीचर ज़िला फ़र्रुखाबाद (अंग्रेज़ी प्राइमर मैं बाजार या स्कूल से नहीं ले सकता था— तब पण्डित मथुराप्रसाद जी प्रोफ़ेसर क्वीन्स कॉलेज बनारस को पत्र भेजकर दो आने के बैरंग लिफ़ाफ़े में गुप्त रीति से पुस्तक मँगाई) से अंग्रेज़ी आरम्भ की। पण्डित मथुराप्रसाद की प्राइमर के नौ लेसन पढ़े होंगे कि मैंने एकाएक जोश में आकर ज़िला स्कूल में नाम लिखा दिया। दो दिन मात्र स्कूल में गया कि हमारे शिष्यों में बड़ी चर्चा हुई। अंत में एक प्रधान शिष्य ने मुझे धमकाया और कहा कि यदि तुम अंग्रेज़ी पढ़ना न छोड़ोगे तो हम तुम्हारा परित्याग कर देंगे और स्कूल से जबरन नाम कटवा दिया ...।' गोस्वामी सख़्त अफ़सोस के साथ स्वीकार करते हैं, 'मन मेरा पराधीन था, मुझे अंग्रेज़ी पढ़ना छोड़ना पड़ा। मुझे अंग्रेज़ी का उस समय बड़ा शौक था यदि पढ़ता तो थोड़े दिनों में ही उच्च श्रेणी की परीक्षा में सफल हो जाता। मेरी इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के रोकने से बड़ी क्षति हुई ...।'[2]

---

[2] कर्मेंदु शिशिर (1990), *राधाचरण गोस्वामी की चुनी रचनाएँ*, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद : 17.

'क्षति' क्या हुई होगी, इसका अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है। चूँकि अंग्रेज़ी शिक्षा का महत् प्रयोजन उपयोगी-ज्ञान का शिक्षण और राजभक्त बाबू-वर्ग तैयार करना था, इसलिए वह ऊँची तनख़्वाह और प्रोन्नति के साथ-साथ सामाजिक मान-सम्मान की गारंटी भी थी। ऐसे में गोस्वामीजी चाहते तो उसी राह पर चलते जिस राह पर भारतेंदु के एक जीवनीकार बाबू शिवनंदन सहाय चले थे—

पंचम बरसहि पढ़न लग्यो मक़तब निज जाई।
पितहूँ सो कछु काल पढ़ी फ़ारसी लरिकाई।।
पुनि स्कूल सो जाय सिखौ अंग्रेज़ी भाषा।
पास कियो इंट्रेन्स बढ़ी चाकरी आसा।।
भयों जजीं महं दी एम किरानी बयस इक्कीसा।
फेर एकौंटेन्ट हेडकिरानी कीन्ह गिरीसा।।
करत अहौं अब काम ट्रांसलेटर को ताता।
भजत सदा जगदीश सकल मुद-मंगल-दाता।।[3]

गोस्वामीजी ने क्षति की पूर्ति दूसरे तरह से की। वे लेखक बन गये। उन्होंने बाबू हरिश्चंद्र की 'मैग़ज़ीन' पढ़ी और 'प्रवृत्ति देशोपकार' की ओर जमी। गोस्वामीजी की नज़र में देशोपकार क्या था? वे लिखते हैं, 'नयी रोशनी तो अपनी ओर खींचती थी और पुराने गुरुजन पुरानी लकीर पर चलाने की चिंता में थे। वही बात हुई दुविधा में दोऊ गये माया मिली न राम। नयी रोशनी का विष बड़ा तीव्र है, सावधान रहना!' गोस्वामीजी ने इसका निदान निकाला और 1875 में 'कविकुल' कौमुदी सभा की स्थापना की जिसका उद्देश्य था 'हिंदी की गद्य-पद्य रचना तथा संस्कृत कविता की श्रीवृद्धि और व्याख्यान देना।' इस सभा की स्थापना से तीन दिन पहले राधाचरण गोस्वामी की पहली पत्नी का देहांत हो गया था और 'इस शोक में भी सभा का प्रथम अधिवेशन गोस्वामी जी ने किया।' सभा उनके कुल के लिए 'नयी वस्तु' थी और इसे 'अंग्रेज़ी रीति समझ कर' उनके भाइयों ने विरोध किया। 'नयी रोशनी' का आशय यहाँ स्पष्ट हो जाता है। इन्हीं 'सभा-सोसाइटी के प्रपंच में पड़ कर' उन्होंने अन्यान्य धर्मग्रंथों को देखने का अभ्यास किया। 'सबसे प्रथम ईसाई मत देखा और उसमें भी जो हिंदू धर्म का खण्डन है, वह बड़े आग्रह से पढ़ा। परंतु, उससे कुछ तृप्ति न हुई। तब ब्राह्म-धर्म के ग्रंथ देखे और ब्राह्म-धर्म के मासिक पत्र *हिंदू-बांधव* में प्रस्ताव भी लिखता था ...।'[4]

हिंदी साहित्य-कोश (भाग-2) में राधाचरण जी को विशेष रूप से इस कारण याद किया गया है कि वे खड़ी बोली पद्य के विरोधी थे : 'गोस्वामीजी ब्रजभाषा के बहुत बड़े समर्थक ही नहीं खड़ी बोली के विरोधियों में से थे... इनकी साहित्यिक प्रतिभा ने हिंदी साहित्य को कुछ मौलिक नाटक.... और कुछ बांग्ला उपन्यासों के अनुवाद ... दिये लेकिन गोस्वामीजी की साहित्यिक प्रसिद्धि का मुख्य कारण खड़ी बोली के पद्य का विरोध ही था ...।'[5]

लेकिन स्वयं गोस्वामीजी अपने बारे में इसके अतिरिक्त बहुत-सी बातें कहते हैं और उन बातों से ज़ाहिर होता है कि वे सिर्फ़ साहित्यिक प्रतिभा के ही धनी नहीं, कुछ और भी थे। वे अख़बार पढ़ने के शौक़ीन थे। अपने पास आये सारे पत्रों का संग्रह करते थे। भारतेंदु की पत्रिका *कविवचन सुधा* में

---

[3] बाबू शिवनंदन सहाय (1975), *हरिश्चंद्र,* हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश, देखें, उपसंहार : 3.

[4] कर्मेंदु शिशिर, (1990).

[5] धीरेंद्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा और रामस्वरूप चतुर्वेदी (सम्पा.) (संवत् 2020), *हिंदी साहित्यकोश,* भाग-2, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी : 467.

उनके लेख के विरोध में (इसमें उन्होंने खुशी प्रकट की थी कि 'भारत में पुनरपि वैदिक मत प्रगट होत दिखरात') एक प्रेरित पत्र छपा था। इसके लेखक स्वयं भारतेंदु थे। इस पत्र से उनके शिष्य, मित्र और कुटुम्ब में कोलाहल हुआ। इसी कारण वे 'ब्राह्म-धर्म के ख़यालात से बाज आये' और वैष्णव धर्म के पक्ष में लेख लिखने लगे। उन्होंने स्वामी दयानंद के ग्रंथ मँगा कर पढ़े थे और फ़र्रुखाबाद तथा वृंदावन में अनेकश: इस पर गोष्ठी की थी। उनकी रचनाओं का एक बड़ा अंश वैष्णव धर्म से संबंधित है। वे 1882 में स्थापित (वृंदावन में) वैष्णव धर्म प्रचारिणी सभा के द्वितीयाचार्य (उपाध्यक्ष) थे। उन्होंने तीन वर्ष पाँच मास तक भारतेंदु मासिक पत्र का प्रकाशन किया। इसी समय शिक्षा कमीशन बैठा। इसमें उन्होंने अपने उद्योग से हिंदी के पक्ष में 21,000 स्वाक्षर (हस्ताक्षर) मेमोरियलों द्वारा भिजवाये थे। 1884 में प्रयाग हिंदू समाज के प्रथम अधिवेशन में हिंदी पत्र-सम्पादकों की एक सभा स्थापित हुई। इसके वे एक वर्ष तक सेक्रेटरी रहे। 1886 में कांग्रेस में वृंदावन से प्रतिनिधि होकर वे कलकत्ता गये। यहीं से लौट कर उन्होंने 'समाज-संशोधन' के लिए दो ग्रंथ *विदेश-यात्रा विचार* और *विधवा-विवाह विवरण* लिखे। 1885 में ये वृंदावन की म्युनिसिपलिटी में मेंबर चुने गये। वृंदावन में श्रीरंगजी के मंदिर में ब्रह्मोत्सव के मेले में ईसाई लोगों के हिंदू देवी-देवता की निंदा सुन कर वे उनके विरुद्ध उपदेश भी करने लगे। 1888 से 1893 तक वे मथुरा की डिवीज़नल कांग्रेस कमिटी में मंत्री रहे। श्रीकृष्ण के जन्मदिन व्रत और नाम-जप के सवाल पर उन्होंने इसके विरोधी लोगों से दो वर्षों तक सभा और पत्रों द्वारा विवाद किया और 'विद्या-वागीश' की उपाधि पायी। 1894 में दुबारा वृंदावन की म्युनिसिपलिटी में मेंबर चुने गये। जीविका उन्हें अपने 1,500 शिष्यों से सुलभ थी। अपने पैतृक मंदिर में संस्कृत, हिंदी, बांग्ला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, उर्दू, अंग्रेज़ी की 5,000 पुस्तकों का एक संग्रह उन्होंने तैयार किया और इसे वे पब्लिक लाइब्रेरी की रीति पर शीघ्र ही सर्वसाधारण के लिए खोलने का निश्चय कर चुके थे।

एक साथ, इतने मोर्चों पर सक्रिय व्यक्ति को क्या कहा जाना चाहिए? क्या सिर्फ़ साहित्यिक प्रतिभा का धनी?[6] ऊपर की सूचनाएँ राधाचरण गोस्वामी को सिर्फ़ साहित्यिक प्रतिभा का धनी सिद्ध नहीं करतीं। इनसे यह निष्कर्ष भी नहीं निकाला जा सकता कि वे मात्र धर्मोपदेशक थे। उन्हें ठेठ राजनीतिक व्यक्ति भी नहीं कहा जा सकता। इन सूचनाओं को समग्रता में देखें तो राधाचरण गोस्वामी एक सार्वजनिक व्यक्तित्व के रूप में उभरते हैं (सी.ए. बेली ने इसके लिए 'पब्लिक मेन' शब्द का प्रयोग किया है।)[7] ये 'पब्लिक मेन' एक ही साथ सब-कुछ हैं और आम जन की भलाई के सवाल पर बहस-मुबाहिसे को आधार बनाकर जनमत तैयार करने का काम करते हैं। राधाचरणजी के मामले में हम लेखक, सम्पादक, पुरोहित, हिंदी के समर्थक, म्युनिसिपलिटी के मेंबर, कांग्रेस के डेलीगेट, धर्मसुधारक, साहित्यकार, पुस्तक-प्रेमी आदि की अनेकविध भूमिकाओं को एक ही व्यक्ति में समाहित पाते हैं।

साहित्य : बदलती अपेक्षाओं के बीच ...

यह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के साहित्यिक परिवेश की नयी घटना है और इसने साहित्य की अवधारणागत समझ में विक्षेप पैदा किया— नयी अपेक्षाओं ने साहित्य से नयी भूमिका की माँग की। साहित्य नैशनलिटी का साक्ष्य बना, उसका रिश्ता धर्म से माना गया और वह पांडुलिपियों तथा दरबारों

---

[6] कर्मेंदु शिशिर, (1990).

[7] सी.ए. बेली (1999), *एम्पायर ऐंड इंफ़ार्मेशन : इंटेलीजेंस गेदरिंग ऐंड सोशल कम्युनिकेशन इन इण्डिया, 1780-1870,* फ़ाउंडेशन बुक्स, दिल्ली : 338-365.

की क़ैद से निकलकर मुद्रित पुस्तक के रूप में साक्षर समुदाय के बीच आया। साहित्य एक पण्यवस्तु बना और साहित्यकार एक सांस्कृतिक वस्तु का उत्पादनकर्ता। इसके कारण बहुमुखी थे। लेकिन इन कारणों में प्रमुख था अंग्रेज़ी सभ्यता का आतंक और इस आतंक से उपजी आत्महीनता के बीच मध्यवर्ग की अपनी आत्मबोध को पाने-बचाने की छटपटाहट। इस स्थिति पर भीखू पारिख की टिप्पणी द्रष्टव्य है—

> वे (अंग्रेज़) लोग अपनी प्रजा को नये विचार और जीवन की नयी राह सुझाने के उद्यम में लगे थे। वे प्रजाजनों के अंदर नयी आदतें, गुण और बुद्धि तथा चरित्र विकसित करना चाहते थे... वे सिर्फ़ शिक्षक नहीं थे; प्रधानाध्यापक थे। सिर्फ़ क़ानून बताने और बनाने वाले नहीं, बल्कि प्रबोधक थे। भारत एक विशाल सरकारी विद्यालय में तब्दील हो गया था और भारतीय उनकी नज़र में शिष्य थे ... सभ्यतागत श्रेष्ठता के दावों से भरपूर अंग्रेज़ जाति ने भारतीयों से बड़ी आक्रामक मुद्रा में संवाद किया। उनकी चुनौती थी कि कुछ ऐसा हो तो दिखाओ जिससे लगे कि यह बात तुमसे अंग्रेज़ों को सीखनी है। भारतीयों के लिए यही कहना पर्याप्त नहीं था कि हमारी सभ्यता का मुख्य सरोकार तथा सांगठनिक सिद्धांत अंग्रेज़ों से अलग है, बल्कि उन्हें अपने सभ्यतागत अंतर का अनुवाद ब्रिटेन की साभ्यतिक पदावली में करना था और इसका मूल्य ब्रिटिश पदों में बताना था। औपनिवेशिक शासन का तर्क स्वेच्छाचारी था और वहाँ अंतर का होना मूल्यहीनता का सूचक था। ... [8]

(ऊपर से) चार्ल्स ग्रांट, जेम्स मिल और थामस बेबिंग्टन मैकाले

राधाचरणजी जब नयी रोशनी और पुरानी लकीर के द्वंद्व में फँसे हिंदी गद्य-पद्य की रचना और संस्कृत कविता की श्रीवृद्धि के लिए *कविकुल कौमुदी* की स्थापना कर रहे थे और इसी कारण अंग्रेज़ी चाल की सभा करने के आरोप में कुल की रीति से अलग होने पर भाइयों द्वारा फटकारे जा रहे थे, तो दरअसल वे सभ्यतागत अंतर को पाटने का प्रयत्न कर रहे थे। वे अंग्रेज़ी तर्ज़ की संस्था (सभा) अपना कर अपने साहित्य को ठीक उसी तर्ज़ पर श्रेष्ठ जातीय साहित्य बनाने-बताने की कोशिश में थे, जिस तर्ज़ पर अंग्रेज़ी शासन ने अपने जातीय साहित्य की श्रेष्ठता साबित की थी।

यह काम उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सबसे पहले भारतेंदु हरिश्चंद्र के माध्यम से शुरू होता है। औपनिवेशिक परिवेश में स्वत्वबोध की चिंता से छटपटाते हुए इस मनीषी-आत्मा की जीवन-यात्रा को वसुधा डालमिया ने हिंदू परम्पराओं के राष्ट्रीयकरण के रूप में पढ़ने की कोशिश की है। यह उनकी पुस्तक के शीर्षक *नैशनलाइजेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडिशंस : भारतेंदु ऐंड नाइंटींथ सेंचुरी बनारस* से ही स्पष्ट हो जाता है।[9] भारतेंदु हरिश्चंद्र स्वयं 'पब्लिक मेन' की श्रेणी में आते हैं और उनके सार्वजनिक कार्यों का ब्योरा सर्वज्ञात है। वे सभा-समाजों के सक्रिय सदस्य तो रहे ही, सभा-समाजों के संस्थापक

---

[8] भीखू पारिख (1989), *कोलोनियलिज़म, ट्रेडिशन ऐंड रिफ़ार्म : ऐन एनालिसिस ऑफ़ गांधीज़ पॉलिटिकल थॉट,* सेज पब्लिकेशन, नयी दिल्ली : 34-70.

[9] वसुधा डालमिया (1999), *द नेशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडिशन : भारतेंदु हरिश्चंद्र ऐंड नाइंटींथ सेंचुरी बनारस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली (देखें : भूमिका).

भी बने। भारतेंदु हरिश्चंद्र 1857 के बाद स्थापित नये शासन में (यह शासन प्रजाजनों को अपने धर्म के पालन का अधिकार देता था और म्युनिसिपलिटी में प्रतिनिधित्व भी) 'जनमत' के महत्त्व की पहचान करते हैं। वे इसे धर्म से जोड़ते हैं और देश की उन्नति से भी। अपने 1872 के एक लेख 'पब्लिक ओपीनियन इन इण्डिया' में उन्होंने लिखा :

> जब तक मूढ़ता के बंधन को हटा फेंकने की इच्छा सर्वसाधारण में उत्पन्न नहीं होती तब तक भारत के पुनरुत्थान का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। भारत का धर्म वह होना चाहिए जो उसके लक्ष-लक्ष-प्रजाजनों का शासन बग़ैर किसी बाधा के कर सके। पश्चिमी सभ्यता की किरणों से आपसी फूटमत के अँधेरे मिट जाने दें ... और जातीय उन्नति के कँगूरे की नींव हमारी एकता पर टिकी हो जो कि हर सभ्य क़ौम का लक्षण है ...।[10]

इस जातीय एकता को धर्म के आधार पर गढ़ा गया। भारतेंदु का परवर्ती लेखन इसका साक्ष्य है कि वे भारतवर्ष की एकता की कल्पना वैष्णवता के आधार पर करते हैं। उनकी चिंता है 'भारत निज स्वत्व गहै' और यह स्वत्व वे अपनी भाषा में खोजते हैं : 'निज भाषा उन्नति अहै ... सबै उन्नति को मूल'। उन्नति के संदर्भ में भाषा और धर्म पर्यायवाची हो जाते हैं : 'सभी उन्नतियों का मूल धर्म है।' यह एक जटिल प्रक्रिया है और अलग से चर्चा की मुस्तहक़ है। यहाँ, बस प्राच्यविद्याविद् विलियम जोंस [11] (जो 1783 में कलकत्ता के सुप्रीम कोर्ट की बेंच में जज का पद सँभालने इस विचार के साथ भारत पहुँचे कि अनुवादों के सहारे पूरब के बाशिंदों को पालतू बना कर उन्हें युरोपीय सिखावन के लायक बनाया जा सकता है) के कुछ वाक्यों को उद्धृत किया जा रहा है। इन वाक्यों में इस बात के पर्याप्त संकेत हैं कि भाषा के इतिहास को धर्म के इतिहास और धर्म के इतिहास को राष्ट्रीयता के इतिहास के साक्ष्य के रूप में देखने की भारतेंदु युगीन कोशिश प्राच्यविद्याविदों की वैचारिक निर्मिति के भीतर हुई और इस वैचारिक निर्मिति के एक हाथ में देने के लिए अतीत का स्वर्णयुग था तो दूसरे हाथ में साभ्यतिक पदावली में चलने वाला कोड़ा जिसकी फटकार कहती थी कि भारतीय जन्मना गुलाम होते हैं। यह दूसरा हाथ अपनी फटकार सही साबित करने के लिए हर बार भारतीय ज्ञानराशि के संचित कोष (साहित्य) को आगे कर देता था। यह विलियम जोंस ही थे जो हिंदी के आधार पर हिंदू और हिंदुस्तान की वैचारिक निर्मिति की आधारशिला रखते हुए सुझा रहे थे :

> भारत से मेरा आशय उस विशाल भू-भाग से है जिसमें हिंदुओं का प्राचीन धर्म और भाषा आज दिन तक कमोबेश प्राचीन शुद्धता के साथ प्रचलित है और जिसमें नागरी-लिपि अब भी अपने मूल रूप से थोड़े ही बदले रूप में प्रयोग की जाती है ...।

यह सोच कर कि भारत के इतिहास को जानने के लिए हिंदुओं के इतिहास को जानना और हिंदुओं के इतिहास को जानने के लिए उनकी भाषा के इतिहास को जानना ज़रूरी है, उन्होंने लिखा:

> 'अट्ठारहवीं सदी के मध्य से आज दिन तक के समय को छोड़ कर इनका जनजीवन हम तक मात्र किंवदंतियों से ही पहुँच पाता है। हमारे पास इस विषय में स्वयं को संतुष्ट करने के लिए महज चार साधन वर्तमान हैं— पहला भाषा, दूसरा इनका दर्शन और धर्म, तीसरा मूर्तिशिल्प और वास्तुशिल्प के वास्तविक अवशेष तथा चौथा विज्ञान और कला विषयक इनके लिखित ग्रंथ।

---

[10] बारबरा डी. मेटकॉफ़ और थॉमस आर. मेटकॉफ़ (2005), *अ कंसाइज़ हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, यूके : 117.

[11] आलेख में विलियम जोंस से संबंधित कथन मोनी बागची (1984), *विलियम जोंस : डिस्कोर्सेज़ ऐंड एसेज़,* पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली : 6-9 और तेजस्विनी निरंजना (1990), 'ट्रांसलेशन, कोलोनियलिज़म ऐंड द राइज़ ऑफ़ इंग्लिश', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 25, अंक 15 से उद्धृत.

भारतीयों को उनके अतीत का स्वर्णयुग दिखाने को आतुर विलियम जोंस अपने जातीय श्रेष्ठता के दम्भ में यह बताना कर्तव्य समझते थे कि 'कोई भारत का भ्रमण करे और यहाँ की साहित्य-राशि से परिचित हो तो स्वभावतया वह युरोपीय प्रतिभा की श्रेष्ठता को लक्ष्य किये बग़ैर नहीं रहेगा। यह बात तो सिकंदर के ज़माने से स्वीकृत चली आ रही है और हम भले ही इस महत्त्वाकांक्षी सम्राट के ऋषितुल्य उपदेशक की इस बात से सहमत न हों कि एशियाई जन्मना ग़ुलाम होते हैं तो भी यह एथेंसवासी कवि उस जगह बिल्कुल सटीक जान पड़ता है जहाँ वह युरोप को सम्प्रभु सम्राज्ञी और एशिया को उसकी दासी के रूप में चित्रित करता है ...।'

विलियम जोंस अपने जातीय श्रेष्ठता के दम्भ में यह बताना कर्तव्य समझते थे कि 'कोई भारत का भ्रमण करे और यहाँ की साहित्य-राशि से परिचित हो तो स्वभावतः वह युरोपीय प्रतिभा की श्रेष्ठता को लक्ष्य किये बग़ैर नहीं रहेगा। यह बात तो सिकंदर के ज़माने से स्वीकृत चली आ रही है और हम भले ही इस महत्त्वाकांक्षी सम्राट के ऋषितुल्य उपदेशक की इस बात से सहमत न हों कि एशियाई जन्मना ग़ुलाम होते हैं तो भी यह एथेंसवासी कवि उस जगह बिल्कुल सटीक जान पड़ता है जहाँ वह युरोप को सम्प्रभु सम्राज्ञी और एशिया को उसकी दासी के रूप में चित्रित करता है ...

यहाँ यह जानना दिलचस्प हो सकता है कि अंग्रेज़ी सभ्यता की चुनौतियों के समक्ष हिंदी-लोकवृत्त[12] के सक्रिय पात्र हिंदुस्तान की क्या छवि प्रस्तावित कर रहे थे। प्रतापनारायण मिश्र के *भारत दुर्दशा रूपक* का शुरुआती हिस्सा इसे एक झटके में प्रकाशित कर देता है। पहले दृश्य में रूपक का नायक भारत सो रहा है। भारत की स्त्री विद्या उसे जगाती है। आशा और लाज नामक विद्या की दो सखियाँ इधर-उधर खड़ी हैं। भारत को जगाते हुए विद्या का कथन है, 'शोक और पश्चात्ताप का विषय है कि आज आपने धर्म के एक बड़े भारी अंग का खण्डन किया। कहाँ तो सूर्य के उदित होते-होते सब प्रकार के शौच से निश्चिंत होकर भगवत् भजन में मगन हो जाते थे और कहाँ यह आलस्य कि आप जगाए-जगाए जागे, सार-संसार का शिरोमणित्व केवल धर्मनिरालसित्व एक्य और विधा के ही प्रभाव से आपको जगदीश्वर ने दिया है; यदि आप ही ऐसा करने लगे तो सांसारिक और आत्मिक उन्नति को फिर किसका आश्रय मिलेगा?'[13] यहाँ विद्या के साथ लाज है और सांसारिक-आत्मिक उन्नति का आधार है धर्मनिरालसित्व एक्य। विद्या इस एक्य के रेखांकन का आधार बनती है। इन बातों के पीछे 1857 के बाद स्थापित नये शासन का ढाँचा प्रेरक शक्ति का काम करता है। यह देखने से पहले कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के हिंदी-लोकवृत्त में 'पब्लिक-मेन' को किस संज्ञा से याद किया जाता है और उससे कैसी भूमिका की अपेक्षा रखी जा रही थी, थोड़ी देर के लिए उस ढाँचे का एक संक्षिप्त जायज़ा लेना उचित होगा जो 'पब्लिक-मेन' के लिए विषयों का निर्धारण कर रहा था।

---

[12] उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में विकसित हिंदी-लोकवृत्त संबंधी अध्ययनों के परिचय और उनसे जुड़ी बहसों के लिए देखें, अपूर्वानंद और संजय शांडिल्य (सम्पा.) (2008), *प्रस्तुत प्रश्न,* दानिश बुक्स, नयी दिल्ली में संकलित अविनाश कुमार का आलेख 'सार्वजनिक क्षेत्र की अवधारणा और हिंदी : हाल की कुछ बहसें' : 185-197.

[13] डॉ. चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001), *प्रतापनारायण मिश्र रचनावली,* खण्ड-4, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली : 13-14.

1857 के 'ग़दर' के बीस बरस बाद लार्ड लिटन का 'दिल्ली दरबार' हुआ था। महारानी विक्टोरिया ने नयी पदवी 'एम्प्रेस' धारण की। लिटन के दरबार में इसी पदवी-धारण की घोषणा हुई थी। इसका उद्देश्य था ब्रिटेन और उपनिवेशों के बीच एक नया संबंध क़ायम करना जो ब्रिटेन के लिए राजनीतिक रूप से फ़ायदेमंद हो और भारतीयों के तेवर के अनुकूल भी। इस संबंध की कल्पना की थी कंज़र्वेटिव प्रधानमंत्री डिज़रायली ने। मुग़लकालीन राजधानी दिल्ली में आयोजित इस विशाल दरबार का एक उद्देश्य राजे-महाराजे, ज़मींदार-रईस और शहरी अभिजन के बीच संबंधों को एक ख़ास ढाँचे में तब्दील करना भी था।** इन सबको अलग-अलग जनसमूहों का प्रतिनिधि मानकर एक श्रेणीक्रम में रखा गया और इस श्रेणीक्रम को अधिकार-भेद के क्रम में सजाया गया। इसमें सबसे ऊपर था वायसराय। यह मध्यकालीन युरोप में मौजूद सम्राट की कल्पना थी जो अपने सामंतों-जागीरदारों का सिरमौर हो। लिटन ने 1877 में यह स्वीकार भी किया था कि ऐसे दरबार का आशय ब्रिटिश साम्राज्य के इस अंग (भारत) की विविध परम्पराओं को दृश्यमान करना है और इसके निवासियों के वैविध्य को सार्वजनिक तौर पर प्रस्तुत करना है जो 'असंख्य प्रजातियों में यहाँ निवास करते हैं'। लिटन ने माना कि 'इन प्रजातियों का चरित्र उनके धर्म मत से सुनिश्चित होता है।' यह शासन का सामंती ढाँचा था।

इसके साथ-साथ शासन का उदारतावादी ढाँचा भी स्थापित किया गया। इस शासन ने अपने समाजशास्त्र के बूते समुदायों को पहचाना और उनके 'अगुआ' नियत किये। उन्हें ख़िताब, पदवी और विशेषाधिकार प्रदान करके शासन से जोड़ने की कोशिश की। इसी का एक तरीक़ा था म्युनिसिपल शासन में इन समुदायों के प्रतिनिधियों को शामिल करना। म्युनिसिपल शासन में राजे-रजवाड़े तो शामिल होते ही थे, शहरी अभिजन भी शामिल किये जाते थे। म्युनिसिपल बोर्ड में सरकारी प्रशासकों का प्रभुत्व था, ज़िले का कलेक्टर उसका प्रधान होता था। परंतु इसके मानद सदस्यों में समुदाय के नेता के तौर पर धर्म और जाति के नेता भी होते थे। म्युनिसिपल शासन के आर्थिक कारण थे तो राजनीतिक भी।

राजनीतिक कारण था उदारतावादी विचारधारा में पगे साम्राज्यवादी शासनकर्ताओं द्वारा म्युनिसिपलिटी को राजनीतिक

प्रतापनारायण मिश्र के *भारत दुर्दशा रूपक*... का नायक भारत सो रहा है। भारत की स्त्री विद्या उसे जगाती है। आशा और लाज नामक विद्या की दो सखियाँ इधर-उधर खड़ी हैं। भारत को जगाते हुए विद्या का कथन है, 'शोक और पश्चाताप का विषय है कि आज आपने धर्म के एक बड़े भारी अंग का खण्डन किया। कहाँ तो सूर्य के उदित होते-होते सब प्रकार के शौच से निश्चिंत होकर भगवत् भजन में मगन हो जाते थे और कहाँ यह आलस्य कि आप जगाए-जगाए जागे, सारे-संसार का शिरोमणित्व केवल धर्मनिरालसित्व एक्य और विधा के ही प्रभाव से आपको जगदीश्वर ने दिया है; यदि आप ही ऐसा करने लगे तो सांसारिक और आत्मिक उन्नति को फिर किसका आश्रय मिलेगा?'

** 1857 के बाद के भारत में दो तरह की शासन-व्यवस्था (कहीं शासन में सीमित अर्थों में प्रतिनिधित्व देना तो कहीं जनता को रजवाड़ों की प्रजा के रूप में रखना) चली. लार्ड लिटन के दिल्ली-दरबार, (इसकी रिपोर्टिंग भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी की है) की विशेष चर्चा बर्नाड एस. कोह्न ने इस ख़ास संदर्भ में की है. आलेख के इस हिस्से के तथ्य कोह्न के एक आलेख 'रिप्रज़ेंटिंग ऑथॉरिटी इन विक्टोरियन इण्डिया' के आधार पर दिये गये हैं. इस आलेख के लिए देखें, सौरभ दुबे (2004), *पोस्ट कोलोनियल पैसेज : कंटेम्परेरी हिस्ट्री राइटिंग इन इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

शिक्षा की पाठशाला समझना। यह समझ अंतर्विरोधी थी। उदारतावादी अव्वल तो भारतीयों को सभ्यता के विकास-क्रम में पिछड़ा मानकर इसके निदान के लिए शिक्षा को ज़रूरी मानते थे तो दूसरी तरफ़ वैकासिक सोपान पर अलग-अलग मौजूद समुदायों की आपसी भिन्नता और एकता के अभाव से आनंदित भी होते थे। 1858 के बाद का शासन दो अंतर्विरोधी सिद्धांतों पर आधारित था। सामंती और उदारतावादी व्यवस्था एक साथ स्वीकृत हुई। म्युनिसिपलिटी के पार्षदों को जनमत का नुमाइंदा माना गया। यह धारणा ब्रिटेन में स्वीकृत हो चुकी थी। लेकिन वहाँ जनमत का नुमाइंदा उसे माना जाता था जो अपनी पूर्व-आधुनिक पहचान अर्थात् कुल-गोत्र-वंश के आधार पर प्राप्त विशेषाधिकार से परिभाषित न हो और सर्वजन की भलाई की बात कहे। यह सिद्धांततः राज्यसत्ता से स्वायत्त आवाज़ थी।

हिंदुस्तान में जनमत के नुमाइंदे सत्ता-तंत्र के हिस्से मान कर स्वीकार किये गये। उन्हें म्युनिसिपलिटी अथवा शासन के स्थानीय तंत्र में शामिल किया गया। शासन में यह हिस्सेदारी उन्हें पूर्व-आधुनिक पहचान के आधार पर दी जाती थी। म्युनिसिपलिटी बोर्ड में शामिल होने का अर्थ ही था शासन के प्रति निष्ठा के दस्तावेज़ पर दस्तख़त कर देना। यहाँ विचित्र यह है कि जो शासन भारतीयों की आलोचना उनकी आपसी भिन्नता के कारण करता था, उसी शासन की संरचना भारतीयों को यह अवसर देती थी कि वे राजनीतिक दुनिया में अपनी पहचान 'धर्म' और 'जाति' के आधार पर करें। लार्ड रिपन के समय में जब म्युनिसिपलिटी के लिए चुनावों की पद्धति स्वीकृत हुई (1880-84) तब भी दो प्रमुख समुदाय हिंदू और मुसलमान के बीच प्रतिनिधित्व के अनुपात पर समतोल बैठाने की कोशिश हुई। इसी समय 'अल्पसंख्यक' और 'बहुसंख्यक' की अवधारणागत स्वीकृति भी हुई।[14]

आश्चर्य नहीं कि भारतेंदु इस शासकीय ढाँचे में अपने समुदाय के नेता के रूप में स्वीकृत हैं। भारतेंदु अपने शहर में 1870 से 1874 तक ऑनरेरी मजिस्ट्रेट रहे। इसी समय लगभग छह साल तक वे म्युनिसिपल कमिश्नर भी रहे। इस दौर के सक्रिय पब्लिक-मेन 'लॉयल्टी-डिस्लॉयल्टी', 'कानून और संसद', 'सभा और मेमोरंडम', 'जातियों की उन्नति' और 'भारत के प्राचीन गौरव' जैसे पदों का बहुतायत से उपयोग करते दिखाई देते हैं। भारतेंदु अथवा उनके मण्डल के रचनाकार इसके अपवाद नहीं हैं। धर्म तथा अन्यान्य सामुदायिक पहचानें प्रमुख हो जाती हैं और उन्नति से आशय समुदायगत उन्नति का हो जाता है। म्युनिसिपलिटी कमिश्नर रहते हुए ही भारतेंदु ने लार्ड मेयो के काशी-आगमन के समय *लेवी प्राण लेवी* लिखा था। इसके बाद 'मर्सिया' छपा जो प्रांत में लेफ़्टिनेंट गवर्नर विलियम म्योर को लक्ष्य करके लिखा गया था। सरकारी कोप भाँपकर भारतेंदु ने ऑनरेरी मजिस्ट्रेट के पद से इस्तीफ़ा दिया और उनकी तीन पत्रिकाएँ *बालाबोधिनी, कविवचनसुधा* और *हरिश्चंद्रचंद्रिका* की ख़रीददारी शिक्षा विभाग से बंद कर दी गयी। म्युनिसिपलिटी का सुनिश्चित रिश्ता 'समुदाय की भलाई' के तर्क से शासन में भागीदार होने से था और यह रिश्ता पत्र-पत्रिकाओं-पुस्तकों आदि द्वारा बनाया जा रहा था।

नागरी लेखक का विचार-लोक

प्रतिनिधित्व-परक इसी व्यवस्था के संदर्भ में भारतेंदु 'पब्लिक-मेन' को एक ख़ास नाम से नवाज़ कर उसकी भूमिका का रेखांकन करते हैं। भारतेंदु ने 'पब्लिक-मेन' अर्थात् शासन द्वारा स्वीकृत समुदाय

---

[14] बारबरा डी मेटकॉफ़, (2005).

[15] हेमंत शर्मा (2000), *भारतेंदु समग्र,* हिंदी प्रचारक पब्लिकेशन, वाराणसी : 1060.

के नेताओं को 'लेखक' की संज्ञा दी है। उनके एक लेख का शीर्षक है : 'लेखक और नागरी लेखक'।[15] यह लेख हिंदी लोकवृत्त तथा हिंदी बुद्धिजीवी की निर्माण-प्रक्रिया को समझने के लिहाज़ से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस लेख की शुरुआत होती है डॉ. जॉनसन की एक पंक्ति से कि 'प्रत्येक जाति (नेशन) को अपने लेखकों के ही गौरव और उच्चाशय द्वारा सर्वोच्च आशय की प्राप्ति होती है'। लेख स्थापित करता है कि 'न्यायाध्यक्ष और कार्याध्यक्ष (हाकिम और ऑफ़िसर) की ही नहीं, वरन् कभी-कभी अर्दली और चपरासी तक की फटकार सहने' पर विवश और 'आजकल के क्लर्क' का पर्यायवाची 'लेखक' महापुरुष के तुल्य है, अर्थात् 'साक्षात ब्रह्म अवतार कवि और राजा' के समान महनीय। 'लेखक' की महानता का कारण बताते हुए भारतेंदु हरिश्चंद्र ने लिखा है कि लेखक 'रूखा-सूखा, मोटा-फ़टा पहिन, सर्दी-गर्मी सह परोपकराय सतां विभूतय' के उपदेश में लगा रहता है।

भारतेंदु के अनुसार लेखक कोई भी पूर्वप्रदत्त पहचान लेकर पैदा नहीं होता, बल्कि 'यथा नाम तथा गुण' से परिभाषित होता है— 'लिखने की सिद्धि प्राप्त किये बिना कोई लेखक नहीं कहला सकता।' लेखक की उत्पत्ति के बारे में भारतेंदु ने चिह्नित किया है— 'लेखक की आयु का निर्णय नहीं कर सकता', क्योंकि 'जब से जगत में अक्षर की सृष्टि हुई है तभी से हमारे लेखक महापुरुष का अवतार हुआ है।' परंतु 'हमें केवल नागरी लेखक से ही संबंध है इसलिए हम कह सकते हैं कि विगत शताब्दी के आरम्भ से प्रथम कोई नागरी-लेखक अपना वर्तमान गौरवसूचक 'लेखक' नाम सार्थक नहीं कर सका।' अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतेंदु का इशारा लल्लूलाल और सदल मिश्र आदि की तरफ़ है। नागरी लेखक उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में ही 'लेखक' नाम क्यों सार्थक कर पाये, इसका कारण भारतेंदु ने बताया है, 'कहना न होगा, मुद्रण-यंत्र के प्रचार के साथ ही महायकुब लेखक की उन्नति हुई। जैसे विष्णु चक्र और महादेव त्रिशूल के सहारे संसार पर विजय पाते हैं वैसे ही लेखक मानो मुद्रण-यंत्र से ही जगत में अपनी दुंदुभी बजाते हैं...।'

भारतेंदु की नज़र में लेखन-कर्म एक चरणबद्ध प्रक्रिया है। इसमें पहले 'उच्च विचारों' को लिखा जाता है, फिर 'छापेख़ाने में' छपवाया जाता है और इसके बाद सर्वसाधारण के सामने धरा जाता है— 'हमें तो स्मरण नहीं होता कि किसी नागरी लेखक ने उन्नीसवीं शताब्दी के पहले अपने उच्च विचारों को लिख कर और छापेख़ाने में छपवाकर सर्वसाधारण के सामने धरा हो ...।' भारतेंदु का अनुमान है कि नागरी लेखक होंगे ज़रूर, लेकिन वे 'काल की गोद' में चले गये। उनमें से कुछ को ही 'थोड़ा-बहुत पुरस्कार' मिला और वे 'अपने जीवन के दिन भयंकर दरिद्र दुख में व्यतीत' करते रहे। इससे अलग उन्नीसवीं सदी के नागरी लेखक 'वर्तमान राजनियम के अनुसार अपनी पुस्तकों पर स्वत्व (कॉपीराइट) रख सकते हैं और ठेठ इसी कारण अपनी 'चिता की भस्म से निकल कर लोगों के हृदय पर राज' करने लगे हैं ...।'

'लेखन' और 'लेखक' का संबंध भारतेंदु 'विद्या' से बताते हैं— 'विद्या ही हमारे परित्राण का चक्र है तब तो लेखक भी हमारे लिए चक्रधारी भगवान विष्णु के समान परित्राणदाता अवश्य होंगे ... विद्या के बिना लेखन-शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती और लिखने से विद्या के ऊपर सान चढ़ती है ...।' भारतेंदु के अनुसार लेखक दो तरह के होते हैं— योग्य और अयोग्य। योग्य लेखक वह है जिसकी लेखनी से 'सदा-सर्वदा ईश्वरीय विचार का प्रवाह प्रवाहित' होता है। 'ईश्वरीय' विचार*** है

*** युवा इतिहासकार अविनाश कुमार ने बीसवीं सदी के शुरुआती दशक के हिंदी-साहित्य में मौजूद कृति की मौलिकता और मूल लेखक से संबंधित विवादों पर केंद्रित अपने एक महत्त्वपूर्ण आलेख में मार्था वुडमैंसी और पीटर जास्ज़ी को उद्धृत करते हुए लिखा है कि युरोप में अट्ठारहवीं सदी की शुरुआत तक साहित्यकार के बारे में दो धारणाएँ प्रचलित थीं. एक धारणा साहित्यकार को शिल्पी के रूप में देखने की हामी थी. इस धारणा के हिसाब से साहित्यकार रसिक-समुदाय (ज़्यादातर राज-दरबारों में केंद्रित) की माँग के अनुरूप, अपने कौशल के ज़रिये पहले से मौजूद भाषिक-सम्पदा को युक्ति से काव्य

'क्षणभंगुर, असार और मायालिप्त बाह्यजगत में रहते हुए भी अनादि-अनंत सारभूत पवित्र आंतरिक तत्त्व को' दिखा देना क्योंकि 'लेखक का आविर्भाव इसलिए होता है कि वह इस असार जगत के सार को स्वयं देखे और दूसरों को दिखलावे और भाषा का जब-जब परिवर्तन हो तो उसी परिवर्तित भाषा में उस समय के मनुष्यों की रुचि के अनुकूल उस सार को वर्णित करे।' इसी अर्थ में भारतेंदु शंकराचार्य को लेखक ही मानते हैं। वे जर्मनी के दार्शनिक फ़िख्टे (ये इमैनुएल कांट के समकालीन थे) के कथन का सहारा लेकर घोषित करते हैं कि 'लेखक ... धर्मोपदेशक होता है।' योग्य लेखकों को अयोग्य लेखकों से अलगाते हुए उनका कथन है कि 'ऐसे लेखक ईश्वरीय ज्ञान से वंचित रहते और सांसारिक विषयों की इच्छा रखते हुए जगत को भुलावे में डाल अपना अर्थसाधन करते हैं।'

भारतेंदु उन्नीसवीं सदी के धर्मोपदेशक लेखक को बीते वक़्तों के 'विद्वानों' से जोड़ते और अलगाते हैं— 'हमारे पूजनीय पूर्व पुरुषों ने देवालयों में भगवत पूजन करने और देवनदियों में निर्धारित तिथियों को स्नान करने और विद्वानों के समागम पर एकत्र होने की प्रथा इसीलिए प्रचलित की थी कि ऐसे समयों पर सर्व-साधारण जन योग्य-पुरुषों की विद्याबुद्धि और वाक्शक्ति का परिचय पा सकें। उनको मालूम था कि वाक्शक्ति के समान जाति की उन्नति के लिए और कोई शक्ति लाभदायक नहीं है और यदि यह न हुई तो जातीय जीवन किसी काम के नहीं.. परंतु लेखन प्रणाली और मुद्रण-यंत्र के सहारे अब जगत के इन कार्यों का कैसा उलट-फेर हो गया है। लेखक धर्मोपदेशक की नाईं इधर-उधर यहाँ-वहाँ नगर-स्थानों पर धर्मोपदेश नहीं देता फिरता, परंतु वह एक ही समय में एक-दूसरे से बहुत दूर बसे हुए अनेक स्थानों पर अपनी शिक्षाओं को सुनाता है...।'

लेखक को भारतेंदु भविष्य का द्रष्टा और भूत का संरक्षणकर्ता सिद्ध करते हैं क्योंकि 'संसार में मनुष्य ने अपनी बुद्धि से जितने अद्‌भुत आविष्कार किये हैं उन में सब से बढ़कर लिपि-निर्माण है ... पुस्तकों में सारा भूत बँधा पड़ा है, उस काल की भाषा और शब्दावली इन में मौजूद है।' इसी आधार पर वे महर्षि वैशम्पायन, वाल्मीकि और तुलसीदास को भारतीय इतिहास के साक्ष्य के रूप में स्वीकार करते हैं— 'लेखन कार्य, जिसका मुद्रण एक सरल स्वरूप मात्र है, मनुष्य मात्र के लिए एक चमत्कारिक दृष्टि उत्पन्न कर रहा है, यह लेखन कार्य भूतकाल और दूर देश की घटनाओं को एक अद्‌भुत नवीन

का रूप देता था. दूसरी धारणा लेखक को देवाविशिष्ट मानती थी. ये दोनों धारणाएँ लेखक की लेखन-शक्ति को उसकी इयत्ता से बाहर स्थापित करती हैं. लेखक को शिल्पी स्वीकारने वाली धारणा लेखन का स्रोत पहले से मौजूद भाषिक-सम्पदा में देखती है जबकि लेखक को देवाविशिष्ट स्वीकारने वाली धारणा लेखन-शक्ति का कारक-तत्त्व मानवेतर सत्ता को मानती है. अट्‌ठारहवीं सदी में इस धारणा में बदलाव आता है. शिल्प-पक्ष पर ज़ोर देने वाली धारणा की जगह देवाविशिष्ट होने की धारणा ज्यादा जोर पकड़ती है और बाद में लेखक के देवाविशिष्ट होने की जगह उसका भावाविष्ट होना स्वीकार कर लिया जाता है. लेखक को विशेष भाव से सम्पन्न मानते ही लेखन की शक्ति का स्रोत लेखक के भीतर ही मान लिया जाता है, और इस अर्थ में विशिष्ट प्रतिभा से रची हुई कृति एक उत्पाद के रूप में कृतिकार की सम्पदा मानी जाती है. लेखक की धारणा में ऐसा प्रिंट की तकनीक के प्रसार और कॉपीराइट के कानूनों की स्वीकृति के साथ होता है.

अविनाश ने भारतेंदुयुगीन हिंदी साहित्य में मौजूद लेखक की धारणा का युरोप में विकसित धारणा से संबंध और अलगाव दिखाया है. उनका कहना है कि भारतेंदु पुराने कवि से नये लेखक का साफ़ अंतर स्थापित करते हैं. अंतर स्थापित करने का आधार है लेखक का पूरे विश्व को पाठक के सामने रखने की क्षमता से युक्त होना. अविनाश के अनुसार उपयोगी ज्ञान की धारणा लेखक की इस नयी अवधारणा में निहित है, साथ ही रोमानी धारणा भी अंतर्बद्ध है जिसमें लेखक को जन्मजात विशिष्ट प्रतिभा से युक्त माना जाता है. इस अर्थ में यह परिभाषा अब भी पुराने *ईश्वरप्रदत्त ज्ञान* और नयी *जन्मजात प्रतिभा* को एक में समेटने की कोशिश करती है— एक ऐसा द्वंद्व जो बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों तक क़ायम रहता है। देखें, अविनाश कुमार (2012), 'डिबेट्स अराउंड ऑथरशिप ऐंड ओरिजनलिटी : हिंदी ड्यूरिंग कोलोनियल पीरियड', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 47, अंक 28.

रूप में वर्तमान समय में हमारे सामने ला धरता है; तीनों काल और पृथ्वी पर के समस्त स्थानों के साथ इस वर्तमान समय में और इस हमारे स्थान पर जहाँ हम हैं अनंत काल के लिए विचित्र सम्मेलन कर देता है ... मनुष्य की जितनी वस्तुएँ हैं उन सबका इस ने रूपांतर कर दिया है, मनुष्य के समस्त बड़े-बड़े कार्य इसने पलट दिये हैं, क्या शिक्षा, क्या दीक्षा... शिक्षा को ही लीजिए... पुस्तकों से इन विद्यालयों के रूप में, मूल कारण में अंतर पड़ गया... जिस समय पुस्तकों को प्राप्त होना कठिन था... उस समय जब किसी मनुष्य को किसी विषय में जानना होता था तो उसे उस विषय के ज्ञाता पण्डितों को इकट्ठा करना होता था ... सहस्त्रों मनुष्य विद्वानों के द्वार पर पड़े हुए उनकी कृपा सम्पादन करना चाहते थे...।'

भारतेंदु का यह लेख 'लेखक और नागरी-लेखक' कई बातों को एक जटिल आख्यान में प्रस्तुत करता है। इसमें कई स्थापनाएँ हैं और उनको परस्पर सम्बद्ध करके देखें तो उसमें आधुनिक हिंदी के बुद्धिजीवी वर्ग के निर्माण और उसकी भूमिका के साक्ष्य बीज-रूप में पड़े हुए मिल जाते हैं। इस लेख की स्थापनाओं को संक्षेप में इन बिंदुओं के अंतर्गत रखा जा सकता है : 1. नागरी लेखक का जन्म उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक दशक की घटना है और यह घटना मुद्रण-यंत्र के कारण घटित हुई। इसी सदी में पुस्तक पर लेखक का 'स्वत्वाधिकार' (कॉपीराइट ऐक्ट-1849) स्थापित हुआ और पुस्तक 'पण्य' वस्तु के रूप में सामने आयी। 2. योग्य लेखक धर्मोपदेशक होता है। वह असार संसार में रहते हुए संसार के 'सार-तत्त्व' का निदर्शन करता है। अयोग्य लेखक अर्थसाधन के लिए लिखता है। 3. लिपि और भाषा इतिहास का साक्ष्य है और इस कारण लेखक भी इतिहास का संरक्षणकर्ता है। 4. पहले वाक्शक्ति अगर जातीय उन्नति का साधन थी तो अब लेखन शक्ति। 5. लेखक होने के लिए योग्यता है— लिखना, छपवाना और सर्वसाधारण के सामने रखना, और लिखने के लिए विद्या पढ़ना जरूरी है, किंतु योग्य लेखक के लिए ज़रूरी है कि उसे 'ईश्वरीय ज्ञानप्रद-पत्र प्रतिभामय लेखन की शक्ति' प्राप्त हो। 6. लेखन ने एक कल्पित देश-काल की रचना की है जिसमें भूत और वर्तमान, 'अब' और 'यहाँ', तथा 'कल' और 'वहाँ' विचित्र रूप से मिल गये हैं।

यह लेख 'साहित्य' शब्द का व्यवहार नहीं करता, साहित्यकार अथवा कवि की बातें नहीं कहता, बल्कि 'वाक्शक्ति' और 'लेखन शक्ति' की बातें करता है। इन शक्तियों को एक विशिष्ट भूमिका से जोड़ कर देखा जाता है और यह भूमिका है 'जातीय उन्नति'। इस लेख में शंकराचार्य, वाल्मीकि और तुलसीदास अर्थात् दार्शनिक, कवि और भक्त सभी 'लेखक' हैं यानी जातीय जीवन के उन्नयनकर्ता। लेख की बुनियादी मान्यता है कि भारतवर्ष के सांस्कृतिक जीवन को लेखकों ने रचा है 'महर्षि वैशम्पायन की कृपा से आज 5000 वर्ष बीत जाने पर भी हम कौरवों-पांडवों का युद्ध देखते हैं ... पुण्यधाम अयोध्या के पाप-ताप नाशी राममंदिर के सुवर्ण-कलश को ऊँचे आकाश में किसने स्थापित किया, संस्कृत और भाषा रामायण के प्रणेता वाल्मीकि और तुलसीदास ने ... भारतवर्ष भर में फैले हुए एक से बढ़कर एक उन मंदिरों को किसने बनाया है जिसमें योगीन्द्र कृष्ण चंद्र की मूर्तियाँ विद्यमान हैं? केवल भागवतादि श्रीकृष्णचंद्र के गुण-वर्णन करने वाले ग्रंथों ने...।'[16] यह लेख 'लेखक' और 'ग्रंथ' को, हिंदू संस्कृति के विराट फलक पर भारतवर्ष का रचयिता सिद्ध करता है और इसी माध्यम से इनकी आगामी भूमिका भी तय कर देता है। साहित्य की पुरानी धारणा से यह कई कोणों से अलगाव का संकेत है।

---

[16] हेमंत शर्मा, (2002).

अलगाव के मुकाम पर एक नज़र

साहित्य की पुरानी धारणा में साहित्य 'काव्य' की संज्ञा से अभिहित है और ज्ञान के शेष अनुशासनों के मुकाबिल उसे स्वायत्त मुक़ाम हासिल है। पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपने एक महत्त्वपूर्ण लेख में इस तरफ़ ध्यान दिलाया है कि 'संस्कृत काव्यशास्त्र ... वर्चस्वशील वैदिक-पौराणिक संस्कृति के विचार-लोक में रहते हुए भी ... कविता के अपने विशिष्ट प्रयोजन, प्रकार्य और आशय के प्रति अत्यंत आग्रहशील है' ... कि 'कविता कुछ भी पूछ सकती है' और 'कविता का काम किसी भी विचार-विशेष का प्रचार करना नहीं बल्कि सौंदर्य की भाषा के ज़रिये मनुष्य की समग्र सत्ता से संवाद करना है। ऐसा संवाद कई बार 'स्वीकृत' मर्यादाओं के परे भी जा सकता है और इसे कविता के ख़िलाफ़ तर्क नहीं बनाया जा सकता ...।'[17] पुरुषोत्तम अग्रवाल के अनुसार संस्कृत काव्यशास्त्र हर छंदोबद्ध शब्द-रचना को काव्य मानने की उदारता नहीं बरतता। इसकी चिंता रचना के प्रस्तुत रूप तक सीमित न रह कर रचना के प्रयोजन तथा उसके स्वाभाविक प्रभाव तक जाती है, 'वह अपने विचार का उपजीव्य उन्हीं रचनाओं को बताता है जो अपने प्रयोजन में काव्य हो।' अग्रवाल ने 'काव्य' और 'पुराण' का ज़रूरी अंतर स्थापित करते हुए लिखा है कि काव्य का प्रयोजन सर्जनात्मक है जबकि पुराण का नियामक यानी वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा। वे काव्य-प्रयोजन के साक्ष्य के तौर पर मम्मट को उद्धृत करते हुए काव्य के छह प्रयोजन यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान, अमंगलनिवृत्ति, लोकोत्तर आनंद और कांतासम्मित उपदेश बताते हैं जो हेमचंद्र तक आते-आते 'आनंद, यश और कांतातुल्य उपदेश' ही रह जाते हैं, 'पुराणोपयुक्त संशय-निवारण से या विचार के प्रसारण से सर्वथा भिन्न आशय है इस उपदेश का ... विचार की जितनी उपस्थिति काव्य की भाव सत्ता में अंतर्निहित है, उतनी काव्यशास्त्री को स्वीकार्य है, लेकिन वह काव्य को मत-विशेष के प्रचार का कार्य नहीं मानता ...।'[18] भारतेंदु हरिश्चंद्र के उपर्युक्त लेख में 'काव्य' अपना स्वभाव बदलता है। यह जातीय उन्नति का माध्यम बन जाता है और 'सभ्यता' के आतंक के तले 'राष्ट्र की आत्मकथा का' एक हिस्सा हो जाता है।

परम्परा से दूसरा बदलाव हम स्वयं कवि-कर्म के धरातल पर देखते हैं। भारतेंदु का आशय 'नागरी-लेखक' से है अर्थात् नागरी में लिखी समस्त ज्ञानराशि से। इसमें काव्य, पुराण, इतिहास, वेद सभी शामिल हैं और लेखक इस ज्ञानराशि का समाहारकर्ता 'धर्मोपदेशक' है। स्वयं भारतेंदु की हरिश्चंद्र मैग़ज़ीन के आमुख पर उद्घोषणा रहती थी : *अ मंथली जर्नल पब्लिश्ड इन कनेक्शन विद द कविवचनसुधा कंटेनिंग आर्टिक्ल्स ऑन लिटरेरी, साइंटिफ़िक, पॉलिटिकल ऐंड रिलीजस सब्जेक्ट, ऐंटीक्विटीज़ रिव्यूज़, ड्रामा, हिस्ट्री, नॉवेल, पोइटिक सिलेक्शंस, गॉसिप, ह्यूमर ऐंड विट।*[19] भारतेंदु के युग में 'काव्य' नागरी लिपि का समग्र वांङ्गमय बन कर स्वीकृत होता है। भारतेंदु अगर कानून की जानकारी देने वाले पत्र *नीति-प्रकाश* का प्रकाशन करना चाहते थे तो बनारस कॉलेज के गणिताध्यापक लक्ष्मी शंकर मिश्र से त्रिकोणमिति पर पुस्तक भी लिखवा रहे थे, जिसका आधार स्वयं अंग्रेज़ी भाषा में उपलब्ध 'उपयोगी ज्ञान' था : 'हिंदी भाषा (देवनागरी लिपि) में विज्ञान, दर्शन, अंकादि के ग्रंथ थोड़े हैं और जो 10-5 छोटे-छोटे हैं भी वे पुरानी चाल के हैं और उनके पारिभाषिक शब्द ठीक नहीं है। इस ग्रंथ (पण्डित लक्ष्मीशंकर के ग्रंथ) के अंत में एक निघंटु भी है जिसमें पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेज़ी शब्द भी दिये हैं। यह इस विधा के नये-नये ग्रंथ बनाने वालों को बहुत उपयोगी होंगे पर हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि लोग त्रिकोणमिति के नये ग्रंथ रचें

---

[17] पुरुषोत्तम अग्रवाल (2000), *विचार का अनंत,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 47-60.

[18] वही.

[19] हेमंत शर्मा, (2005) देखें : भूमिका.

वे इन्हीं शब्दों का प्रयोग करें क्योंकि बहुत से पारिभाषिक शब्द होने से भ्रम होता है। इसके सिवाय जब सब लोग यही शब्द लिखने लगेंगे तो हिंदी में इसका भी प्रचार होगा ...।'[20] मैनेजर पाण्डेय ने जिस घटना को द्विवेदी युग में घटित होता बताया है, दरअसल वह भारतेंदु युग में ही घट चुकी थी। वे लिखते हैं, 'आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी जी को केवल भावना तक साहित्य को सीमित करना अपर्याप्त लगा। इसीलिए उन्होंने साहित्य की एक नयी धारणा सामने रखी। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा कि 'ज्ञानराशि के संचित कोश' का नाम साहित्य है। आधुनिक काल में साहित्य तेज़ी से बदल रहा था तो साहित्य की धारणा भी उसी गति से बदल रही थी।'[21] भारतेंदु युग में भले ही साहित्य को 'ज्ञान राशि का संचित कोश' न कहा गया, परंतु 'जातीय उन्नति' के तर्क से उसे ज्ञानराशि का कोश बनाने के प्रयत्न ज़ोर-शोर से हो रहे थे।

परम्परा से अलगाव का एक और बिंदु बतौर आलोचक रचना से की जा रही माँग से है। कॉपीराइट ऐक्ट, 1849 में अस्तित्व में आ चुका था। इसके आधार पर रचना एक निजी सम्पत्ति बनी। पण्य-वस्तु के रूप में बाजार में उसका मूल्य था और 'रचना' का लेखक सार्वजनिक तौर पर रचना की 'मौलिकता' का दावेदार तथा ज़िम्मेदार बना। आश्चर्य नहीं कि इस युग में विकसित पुस्तक समीक्षा की विधा में दो गुणों पर बहुत ज़ोर दिया गया है। एक तो पुस्तक अच्छी और उपयोगी बन पड़ी है या नहीं, और दूसरे यह कि रचना मौलिक है या नहीं। अच्छी और उपयोगी होने का संबंध देशहितैषिता के तर्क से ख़रीददारी तक जाता है और 'मौलिकता' का तर्क स्वत्वाधिकार से जुड़ता है। चौधरी पं. बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' अपने *संयोगिता स्वयंवर और उसकी आलोचना* की शुरुआत ही इस पंक्ति से करते हैं : 'यह ऐतिहासिक नाटक श्री लाला श्रीनिवासदासजी कृत, सारसुधानिधि यंत्र में मुद्रित पण्डित सदानंद मिश्र द्वारा प्रकाशित जिसका मूल्य एक रुपया है...।' यहाँ एक रुपया का संबंध रचना पर लाला श्रीनिवासदास (रचनाकार) की मिल्कियत और सारसुधानिधि यंत्र के स्वामी अर्थात् प्रकाशक पण्डित सदानंद मिश्र द्वारा रचना के उत्पादन और वितरण में लगाये जा रहे ख़र्च और लाभ से है तथा इस संबंध को मूर्त रूप में स्थापित करने का काम किया है कॉपीराइट ऐक्ट ने। बहरहाल, समालोचना में प्रेमघन कृति की 'मौलिकता' पर टिप्पणी करते हैं : 'इसके आगे संयोगिता की वार्ता ऐसी भ्रष्ट रीति से लिखी गयी जो लिखी नहीं जा सकती। 'प्रीति सीखिए ईख सों' यह पुराना दोहा प्रथम तो बेमौक़ा है फिर क्या साफ़ उड़ा लिया गया है। जब भारतवर्ष के कवियों से तृप्ति न हुई तो आप इंग्लैंड भी जा पहुँचे और... शेक्सपीयर पर हथलपकौअल कर मरचेंट ऑफ़ वेनिस के भी मरचेंट बन गये.. ग़र्चे कि इस सफ़हे की कुल स्पीचें मरचेंट ऑफ़ वेनिस से ली गयी हैं....।'[22]

'मौलिक' और मूल रचनाकार का सवाल इस युग में अनुवाद के सिलसिले में भी उठाया गया था। प्रेमघन इस बात पर खिन्न हैं कि 'लोगबाग सवाल उठाते हैं कि हमारी भाषा में जो कुछ नये ग्रंथ बने भी हैं उनमें प्राय: अनुवादों की संख्या अधिक है।' प्रेमघन का प्रतिप्रश्न है कि 'क्या अनुवाद कोई वस्तु नहीं है?' बहरहाल, उस युग के लेखक अनुवादों की भरमार से परेशान जरूर थे और उनका ज़ोर मौलिक रचना पर था। राधाचरण की टिप्पणी है : 'आजकल हिंदी में ग्रंथों की संख्या बढ़ती जाती है पर ग्रंथ ऐसे नहीं बनते कि जिससे भाषा की उन्नति का नाम लिया जाय। अब

---

[20] वही.

[21] मैनेजर पाण्डेय (1989), *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका,* हरियाणा ग्रंथ अकादमी. चंडीगढ़ : 8.

[22] प्रभाकरेश्वर प्र. उपाध्याय और दिनेश नारायण उपाध्याय (सम्पा.) (2003), *प्रेमघन-सर्वस्व,* द्वितीय भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग : 371-385.

तक जो ग्रंथ बने हैं ... इन ग्रंथों में एक तृतीयांश अनुवादित वा छायामात्र होते हैं जिनसे भाषा का प्रकृत गौरव नहीं समझा जाता। हिंदी लिटरेचर में हम लल्लूजी लाल को आदि ग्रंथकार कहते हैं। इनके प्रेमसागर, बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी आदि उत्तम ग्रंथ हैं। इनकी भाषा रसीली पर बहुधा अनुवाद मात्र है ...।'[23]

मौलिकता और मूल लेखक पर ऐसा ज़ोर पहले की साहित्य परम्परा में नहीं मिलता। इसका एक प्रमाण स्वयं भारतेंदु युग में लिखित साहित्येतिहास *शिवसिंह सरोज* है। ग्रंथकार ने इस ग्रंथ पर अपने स्वत्वाधिकार की घोषणा 'बनाया' शब्द लिख कर की है (बनाया शब्द भारतेंदु युग के हर रचनाकार ने अपने स्वत्वाधिकार को जताने के अर्थ में प्रयुक्त किया है) : '*शिवसिंह सरोज* जिसको श्री सेंगर वंशावतंस श्रीमन्महाराजकुमार ठाकुर रंजीत सिंह सेंगर तालुकेदार कांथा ज़िले उन्नाव के पुत्र शिवसिंह इंस्पेक्टर पुलिस ने बनाया।' ग्रंथकर्ता ने अपने ग्रंथ की विशिष्टता बताते हुए लिखा है कि 'इस ग्रंथ में एक हज़ार भाषा कवि लोगों के नाम और जीवन-चरित्र सन्-संवत् कविता समेत लिखे गये हैं।'[24] कवियों के नाम, जीवन-चरित्र, सन्-संवत् और उनकी कविता इतिहास की एक ख़ास अवधारणा का संकेत करती है। इतिहास की इस अवधारणा में व्यक्ति (रचनाकार) और घटना (रचना) निरंतर आगे की तरफ़ गतिशील तिथि-वार-संवत् में घटित होने वाले 'काल' के तर्क से सिद्ध होते हैं। स्वयं शिवसिंह ने ग्रंथ लिखने की प्रेरणा के बारे में बताया है कि 'संवत् 1933 में हमने दो एक ग्रंथ भाषाकवि लोगों के जीवन-चरित्र विषयक ऐसे देखे जिनमें मतिराम इत्यादि ब्राह्मणों को ग्रंथकर्ता ने लिखा है कि वे महापात्र भाट असनी के हैं और इसी भाँति बहुत-सी बातें देखी, हमसे चुप नहीं रहा गया। हमने सोचा कि अब कोई ग्रंथ ऐसा बनाया चाहिए जिसमें प्राचीन और नवीन कवि लोगों के जीवन-चरित्र सहित सन्-संवत् औ जाति औ कविताई के ग्रंथों समेत विस्तारपूर्वक होवैं...।'[25]

शिवसिंह सेंगर जो काम करने चले थे वह उनसे पूरी तरह से न हो सका। 'नवीन' कवियों का जीवन-चरित्र, नाम और ग्रंथ तो वे ठीक-ठीक लिख सकते थे, 'प्राचीन' कवियों का नहीं। पहली बात तो यही कि प्राचीन कवि प्रिंट के युग में नहीं पाण्डुलिपियों के युग में रहते थे। कविता का वाचन और श्रवण हुआ करता था किसी मुद्रित सामग्री की भाँति पठन-पाठन नहीं। दूसरे, प्राचीन कवि जिस विचारलोक का वासी था, वह विचारलोक 'रचना' और रचनाकार को तिथि-वार-संवत् में घटित होने वाली घटना भी नहीं मानता था। स्वयं शिवसिंह भी इसी विरासत के विस्तार थे। इसलिए इस विरासत से सचेत अलगाव की उनकी कोशिश पूर्णरूपेण सफल न हुई। साहित्यकोश में यह बात दर्ज है : 'यह ग्रंथ सही अर्थ में कवि-वृत्त संग्रह भी नहीं कहा जा सकता, साहित्य-इतिहास तो दूर की बात है क्योंकि कवियों के जन्मकाल आदि के संबंध में जो विवरण हैं वे भी अत्यंत संक्षिप्त और बहुधा अनुमान पर आश्रित हैं ...।'[26]

साहित्य के इतिहास पर विचारोत्तेजक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए ख्यात जी.एन. देवी ने ध्यान दिलाया है कि भारतीय साहित्य की परम्परा में लगभग हर रचना अपने आरम्भिक रूप में लिखित है जो परवर्ती पीढ़ी को 'वाचन' के द्वारा प्राप्त हुई। वाचन की प्रक्रिया में 'पाठ' परिवर्तित-परिवर्धित हुआ और यह रूप भी मूल में स्वीकृत होता चला गया। चूँकि सूत-साहित्य (सूत-साहित्य से देवी

---

[23] कर्मेंदु शिशिर, (1990) : 158.

[24] किशोरी लाल गुप्त (सम्पा.) (1970), *शिवसिंह सरोज,* हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (देखें : भूमिका).

[25] वही.

[26] धीरेंद्र वर्मा वगैरह (संवत् 2020), वही : 565.

का आशय संस्कृत भाषा में मौजूद धर्मेतर और इहलौकिक बातों से सम्बद्ध साहित्य से है) सामूहिक स्मृति और सामूहिक विरासत का हिस्सा माना जाता था, इसलिए 'किसी काल-विशेष में उनकी उत्पत्ति (कि रचना कब हुई) और रचयिता व्यक्ति (किसने रचा) के ब्योरे को सूत-साहित्य के प्रतिमान के भीतर महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता था ...।'[27]

देवी ने इसके अंतर्गत *महाभारत* और *रामायण* का उदाहरण देते हुए लिखा है कि *महाभारत* की रचना-प्रक्रिया और उसके संचरण का पता स्वयं महाभारत के बारे में प्रचलित कथा देती है। इस काव्य के रचयिता महाभारत युद्ध के साक्षी वेदव्यास माने जाते हैं। उन्होंने इसकी रचना *जय* अथवा *इतिहास* नाम से की। मूल रचना 24,000 श्लोकों की थी। कहा जाता है कि व्यास ने अपने पाँच शिष्यों को यह काव्य सुनाया और पाँचों ने इसका अलग-अलग वाचन किया। इन्हीं शिष्यों में से एक थे वैशम्पायन (भारतेंदु *महाभारत* को वैशम्पायन-कृत मानते हैं)। इन्होंने *जनमेजय के नागयज्ञ* में महाभारत का वाचन किया। इस अवसर पर मौजूद लोमहर्षण ने इसे सुना और नैमिषारण्य में ऋषि शौनक को सुनाया। इस समय तक *जय* के श्लोकों की संख्या 60,000 तक पहुँच चुकी थी। 'इसके बाद भी परवर्ती पीढ़ी के कवियों ने इसमें श्लोक जोड़ना जारी रखा और इसके परिणामस्वरूप इसका (*महाभारत का*) वर्तमान पाठ 1,00,000 श्लोकों का है....।'[28]

शिवसिंह जिन कवियों के नाम-पते खोज रहे थे, परम्परा ने उन्हें व्यक्तिगत तौर पर तो बेनाम-बे-पता कर रखा था, लेकिन परम्परा ने उन्हें 'बेठिकाना' नहीं रखा। उसने सामूहिक चेतना और स्मृति का पूरा आकाश उन्हें सौंप दिया था जिसमें एक कवि का श्लोक दूसरे तक पहुँच कर बदल और बढ़ सकता था, और इस तरह कथा जारी रहती थी। यह परिघटना किसी भी ग़ैर-भारतीय आधुनिक व्यक्ति के लिए आश्चर्यजनक है। देवी ने मिल्टन सिंगर को यह कहते हुए उद्धृत किया है भारत जाने से पहले छपी हुई पुस्तकों में *रामायण, महाभारत* और *भागवत पुराण* नाम से उपलब्ध इन कथाओं को मैं जानता था और कुछ हिस्से 'अनुवाद' के रूप में पढ़े भी थे ... 'भारत में कभी-कभार ही मुझे कोई ऐसा मिला जिसने इन कथाओं को मेरी तरह छपी हुई पुस्तकों में पढ़ा हो ... न तो वे (भारतीय) इन्हें (कथाओं को) इस तरह सीखते हैं और न ही इस रूप में सोचते हैं। हरिश्चंद्र, राम और सीता, कृष्ण-अर्जुन और प्रहलाद से जुड़ी घटनाएँ और पात्रों के साथ (भारतीयों में) आत्मीयता का गहरा बोध पाया जाता है मानो कथाओं का संसार ही रोज़मर्रा की ज़िंदगी का भी संसार हो ...।'[29]

शिवसिंह अगर प्राचीन कवि और उनकी कविता के बीच पूर्वापर संबंध ठीक-ठीक नहीं बैठा सके तो इसलिए कि जिस सांस्कृतिक आकाश में वे मूल पाठों और मूल लेखकों को अपने नये इतिहास-बोध से खोज रहे थे उसमें लेखक और पाठ के बीच कोई बँधा-बँधाया पूर्वापर संबंध नहीं था। इसके अलावा स्वयं शिवसिंह का इतिहास-बोध भी इतिहास के भारतीय विभावन से अलग हो चुका था। नलिनविलोचन शर्मा ने इतिहास के भारतीय विभावन को स्पष्ट करते हुए लिखा है— इतिहास का विषय है :

आर्ष्यादि बहुव्याख्यानं देवार्षचरिताश्रयम्।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्धुतधर्मयुक।।

---

[27] जी.एन. देवी (1998), *ऑफ़ मेनी हीरोज़,* ओरिएंट लांगमैन, नयी दिल्ली : 29-30.

[28] वही.

[29] वही.

तथा इतिहास का आदर्श है :

धर्मार्थकाम मोक्षाणामुपदेश समन्वितम्।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।।

नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार 'कठिनाई'... इतिहासविषयक इसी विलक्षण दृष्टिकोण के कारण रही है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस पुरुषार्थ-चतुष्टय में मानव सभ्यता का प्रत्येक क्षेत्र अंतर्भुक्तष्ट हो जाता है... ।[30]

भारतेंदु का उपर्युक्त लेख साहित्य और साहित्यकार की अवधारणा में बदलाव को तो इंगित करता ही है; वह 'देश' के 'राष्ट्र' बनने और उसमें छपाई के संसार की निर्णायक भूमिका की तरफ़ भी इशारा कर देता है। एक बार फिर से याद करें उस लेख का वाक्य कि 'लेखक (ग्रंथकार) धर्मोपदेशक की नाईं इधर-उधर यहाँ-वहाँ धर्मोपदेश नहीं देता फिरता', बल्कि 'लेखन प्रणाली और मुद्रण यंत्र के सहारे' अब 'एक ही समय में एक दूसरे से बहुत दूर बसे हुए अनेक स्थानों पर अपनी शिक्षाओं को सुनाता है।' वे इस प्रक्रिया में होने वाले उलटफेर को चिह्नित करते हैं : 'यह लेखन कार्य भूतकाल और दूर देश की घटनाओं को एक अद्‌भुत नवीन रूप से वर्तमान समय में हमारे सामने ला धरता है, तीनों काल और पृथ्वी पर के समस्त स्थानों के साथ इस हमारे वर्तमान समय और इस हमारे स्थान का जहाँ हम हैं अनंत काल के लिए विचित्र सम्मेलन कर देता है...।'[31] भारतेंदु यहाँ एक नयी चीज़ की पहचान कर रहे हैं और शब्द भले ही दूसरे हों, परंतु उस प्रक्रिया की तरफ़ इशारा कर रहे हैं जिसमें 'जातीयता' अथवा 'राष्ट्रीयता' छापे के पूँजीवाद के माध्यम से एक 'कल्पित समुदाय' के रूप में साकार होती है।

राष्ट्रवाद विषयक अपने महत्त्वपूर्ण अध्ययन में बेनेडिक्ट एंडरसन ने छापे के पूँजीवाद (प्रिंट कैपिटलिज़म) का संबंध 'राष्ट्र' के रूप में गढ़े गये 'कल्पित' समुदाय से स्थापित किया है। 'कल्पित' का अर्थ यहाँ 'झूठ' से नहीं बल्कि आभासी यथार्थ से है। ऐसा यथार्थ जिसका निर्माण प्रिंट की तकनीक के माध्यम से रचित किसी भाषिक संसार के अवबोध में होता है। 'कल्पित' से एंडरसन का आशय उस प्रविधि से भी है जो 'समुदाय का गठन करती है— समुदाय की पहचान उनके यथार्थ/अयथार्थ होने से नहीं, बल्कि उस शैली से की जाती है जिसके द्वारा उनकी कल्पना की गयी हो।'[32] एंडरसन ने 'राष्ट्र' को कल्पित करने की दो बुनियादी प्रक्रियाएँ बतायी हैं। ये प्रक्रियाएँ धार्मिक समुदाय और वंशाधारित समाज के सांस्कृतिक मूल को राष्ट्रीयता के बोध में तब्दील करती हैं। पहली प्रक्रिया छापे के पूँजीवाद की है जो समाचार पत्र तथा अन्य मुद्रित, लोकप्रिय साहित्य-विधाओं के माध्यम से एक बड़े भूगोल में मुद्रित भाषा को पहुँचा देती है। मुद्रण की तकनीक मुद्रित भाषा के माध्यम से एक बड़े भूगोल को 'राष्ट्र' रूप में सोचने के साधन मुहैया कराती है। छापे का पूँजीवाद अपने विस्तार के लिए जिस तरह के आख्यान के रूपों को चुनता है (कथा, उपन्यास, पाठ्यपुस्तक आदि), उसमें अतीत की धर्मसत्ता, उसका मिथक और इतिहास एक साथ जुड़ जाते हैं। मानो किसी

---

[30] नलिन विलोचन शर्मा (1997), *साहित्य का इतिहास-दर्शन,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना : 1-4.

[31] हेमंत शर्मा, (2002).

[32] बेनेडिक्ट एंडरसन की रचना *इमैजिंड कम्युनिटीज़ : रिफ़्लेक्शन ऑन द ओरिजिन ऐंड स्प्रेड ऑफ़ नैशनलिज़म* की धारणाओं पर एक विचारोत्तेजक बहस सतीश देशपांडे ने *जर्नल ऑफ़ आर्ट ऐंड आइडियाज़* के अंक 25-26 में प्रकाशित आलेख 'इमैजिंड इकॉनॉमीज़' में की है. एंडरसन की धारणाओं का सार-संक्षेप इसी आलेख से लिया गया है. आलेख के लिए लिंक देखें, http://www.unipune.ac.in/snc/cssh/HistorySociology/2004.pdf

भूत और भविष्य का वर्तमान की तात्क्षणिकता में युगपत् अस्तित्व हो। बोध के इस विचित्र घालमेल को तिथि-वार और संवत् में मापना सम्भव हो जाता है। काल के इस नये बोध के साथ आधुनिक राष्ट्र के नागरिक, जो व्यक्तिगत तौर पर कुछ ही सह-नागरिकों से सम्बद्ध होते हैं, एक पूरे सहधर्मी-समधर्मी समुदाय की कल्पना कर लेते हैं। इस समुदाय की 'स्वायत्तता, निरंतरता और समकालिकता' पर उनका पूरा विश्वास होता है।

राष्ट्र के बोध के जगने की दूसरी प्रक्रिया एंडरसन ने उपनिवेशवाद के रूप में बताई है। उपनिवेशों का शिक्षित मध्यवर्ग दोहरे तौर पर अकेला था। एंडरसन के अनुसार अपनी पश्चिमी शिक्षा और नज़रिये के कारण यह मध्यवर्ग उपनिवेश बनाने वाले देश के साथ अपनी पहचान स्थापित करता था, पर उपनिवेशकर्ता देश उन्हें अपने से ओछा मानता था। देसी प्रजा के नुमाइंदों की योग्यता भले ही श्रेष्ठतर हो लेकिन उन्हें प्रशासनिक ढाँचे में ऊँचे पद नहीं मिलते थे। यह मध्यवर्ग अपने स्थानीय संदर्भों से भी कट चुका था (राधाचरण गोस्वामी के शब्दों में 'माया मिली न राम')। एंडरसन के अनुसार यही 'अलग-थलग पड़े द्विभाषी बुद्धिजीवी जो अपनी स्थानीयता की जड़' छोड़ चुके थे और जिन्हें साम्राज्यवादी ढाँचा बराबरी का दर्जा देने के लिए तैयार नहीं था, बाध्य होकर 'राष्ट्र' के रूप में अपने वैध स्थान की कल्पना कर रहे थे।[33]

भारतेंदु स्वयं उसी बुद्धिजीवी की श्रेणी में आते हैं जिसकी पहचान एंडरसन ने 'अलग-थलग पड़े द्विभाषी बुद्धिजीवी' के रूप में की है। भारतेंदु काल के लेखकों का दोहरा अलगाव (अपने समाज और अंग्रेज़ी शासन से) लक्ष्य किया जा सकता है। अंग्रेज़ी राज के 'सुख-साज' के बीच प्रजा की हीन हैसियत को भाँप उनकी पीड़ा एक जगह व्यंग्य करती है कि 'सचमुच अब तो तपस्या करके गोरी कोख से जनम लें तो संसार में सुख मिले',[34] तो दूसरी जगह शेष समुदाय से एक वर्ग के रूप में अपने जैसे लोगों (पब्लिक-मेन) के अलगाव की ज़रूरत पर ज़ोर देते हुए यह भी लिखते हैं, 'जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बाहर न निकाले जाएँगे, दरिद्र न होंगे, क़ैद न होंगे वरंच जान से मारे न जाएँगे तब तक कोई भी देश न सुधरेगा ...।'[35] (यहाँ याद करें गोस्वामी द्वारा सभा करने पर उनके भाइयों का विरोध और अंग्रेज़ी पढ़ने पर शिष्यों की धमकी वाला प्रसंग)। एंडरसन की यह बात तो सटीक है कि छापे के पूँजीवाद ने 'राष्ट्र' के बोध को गढ़ने और 'समुदाय' के रूप में स्वयं की 'कल्पना' करने में उपनिवेशों के बुद्धिजीवियों की मदद की। लेकिन पार्थ चटर्जी ने सवाल उठाया है कि अगर 'उपनिवेशों में भी राष्ट्रवाद उसी 'मॉडल' पर पनपा जैसे कि युरोप में तो फिर 'उपनिवेश' के पास अपने राष्ट्रवाद की 'कल्पना' के लिए बचा ही क्या ?[36] उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का हिंदी लोकवृत्त छापे के पूँजीवाद का साक्ष्य ज़रूर है और इसी कारण जातीय साहित्य की अवधारणा को गढ़ पाना सम्भव हो पाता है। प्रिंट (मुद्रण) जातीय भाषा के विकास का माध्यम बनता है, लेकिन प्रिंट की यह दुनिया एक ही साथ सभी साक्षरों के लिए खुलती है। ऐसे में यह एकमत-पसंद स्पेस का नहीं, बल्कि बहुमत-पसंद 'स्पेस' का निर्माण करती है। मुद्रण का आकाश बहुलस्वरी होता है। इस बहुलस्वरी दुनिया में 'दुभाषी बुद्धिजीवियों' के पास अपने 'समुदाय' की कल्पना करने के लिए असंख्य सम्भावनाएँ पैदा हो जाती हैं। प्रिंट की बहुलस्वरी दुनिया में भारतीय संस्कृति के कई आख्यान तैयार होते हैं। किसी एक स्वर का दबदबा नहीं रह जाता। अपने आत्म को उपनिवेशीकृत होने से बचाने की छटपटाहट में इतिहास को एक तरह से नहीं कई तरह से गढ़ा जाता है। अगर भारतेंदु

[33] सतीश देशपाण्डे, वही.

[34] हेमंत शर्मा, वही, भूमिका : 12-37.

[35] वही : 1012.

[36] पार्थ चटर्जी (1999), *द नेशन ऐंड इट्स फ्रैगमेंट्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 3-13.

भारतवर्ष की कल्पना 'वैष्णवता' के आधार पर करते हैं, तो दयानंद सरस्वती 'आर्यधर्म' के आधार पर। एक अगर भक्ति की निरंतर इहलौकिक होती सर्वसमावेशी परम्परा का रेखांकन करता है, तो दूसरा वेद-परम्परा पर आधारित भारत का प्रस्ताव करता है।

संदर्भ

अविनाश कुमार (2008), 'सार्वजनिक क्षेत्र की अवधारणा और हिंदी : हाल की कुछ बहसें', अपूर्वानंद और संजय शांडिल्य (सम्पा.), *प्रस्तुत प्रश्न,* दानिश बुक्स, नयी दिल्ली.

कर्मेंदु शिशिर (1990), *राधाचरण गोस्वामी की चुनी रचनाएँ,* परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद.

किशोरी लाल गुप्त (सम्पा.) (1970), *शिवसिंह सरोज,* हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (देखें : भूमिका).

जी.एन. देवी (1998), *ऑफ़ मेनी हीरोज़,* ओरिएंट लांगमैन, नयी दिल्ली.

डॉ. चंद्रिका प्रसाद शर्मा (2001), *प्रतापनारायण मिश्र रचनावली,* खण्ड-4, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली.

तेजस्विनी निरंजना (1990), 'ट्रांसलेशन, कोलोनियलिज़म ऐंड द राइज़ ऑफ़ इंग्लिश', *इकनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 25, अंक 15.

धीरेंद्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा और रामस्वरूप चतुर्वेदी (सम्पा.) (संवत् 2020), *हिंदी साहित्यकोश,* भाग-2, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी.

नलिन विलोचन शर्मा (1997), *साहित्य का इतिहास-दर्शन,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना.

प्रभाकरेश्वर प्र. उपाध्याय और दिनेश नारायण उपाध्याय (सम्पा.) (2003), *प्रेमघन-सर्वस्व,* द्वितीय भाग, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग.

पार्थ चटर्जी (1999), द *नेशन ऐंड इट्स फ्रैगमेंट्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

पुरुषोत्तम अग्रवाल (2000), *विचार का अनंत,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

बाबू शिवनंदन सहाय (1975), *हरिश्चंद्र,* हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश.

बारबरा डी. मेटकॉफ़ और थॉमस आर. मेटकॉफ़ (2005), *अ कंसाइज़ हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया,* केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, यूके.

भीखू पारिख (1989), *कोलोनियलिज़म, ट्रेडिशन ऐंड रिफ़ार्म : ऐन एनालिसिस ऑफ़ गांधीज़ पॉलिटिकल थॉट,* सेज पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.

मैनेजर पांडेय (1989), *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका,* हरियाणा ग्रंथ अकादमी. चंडीगढ़.

मोनी बागची (1984), *विलियम जोंस : डिस्कोर्सेज़ ऐंड एसेज़,* पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

वसुधा डालमिया (1999), द *नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडिशन : भारतेंदु हरिश्चंद्र ऐंड नाइंटींथ सेंचुरी बनारस,* ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सत्यप्रकाश मिश्र (1995), *बालकृष्ण भट्ट-प्रतिनिधि संकलन,* नैशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली.

सतीश देशपांडे, 'इमैर्जिंड इकॉनॉमीज़', *जर्नल ऑफ़ आर्ट ऐंड आइडियाज़,* http://www.unipune. ac. in/snc/cssh/HistorySociology/2004.pdf

सी.ए. बेली (1999), *एम्पायर ऐंड इंफ़ार्मेशन : इंटेलीजेंस गेदरिंग ऐंड सोशल कम्युनिकेशन इन इण्डिया, 1780-1870,* फ़ाउंडेशन बुक्स, दिल्ली.

हेमंत शर्मा (2000), *भारतेंदु समग्र,* हिंदी प्रचारक पब्लिकेशन, वाराणसी.